

सम्पादकीय

नियमसार : एक अनुशीलन

(गतांक से आगे...)

शुद्धोपयोगाधिकार

(गाथा १५९ से गाथा १८७ तक)

नियमसार गाथा १५९

नियमसार परमागम में शुद्धोपयोगाधिकार का आरंभ करते हुए टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव लिखते हैं ह

“अब समस्त कर्मों के प्रलय करने के हेतुभूत शुद्धोपयोग अधिकार कहा जाता है।”

शुद्धोपयोग अधिकार की तात्पर्यवृत्ति टीका की प्रथम पंक्ति में ही टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव घोषणा करते हैं कि ‘यह शुद्धोपयोग समस्त कर्मों का नाश करनेवाला है।’

अतः जिन्हें कर्मों से मुक्त होना हो, वे इस शुद्धोपयोग अधिकार की विषयवस्तु को गहराई से समझें।

नियमसार परमागम की १५९वीं एवं शुद्धोपयोग अधिकार की पहली गाथा मूलतः इसप्रकार है ह

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणण केवली भगवं ।

केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥१५९॥

(हरिगीत)

निज आत्मा को देखें-जानें केवली परमार्थ से ।

पर जानते हैं देखते हैं सभी को व्यवहार से ॥१५९॥

व्यवहारनय से केवली भगवान सभी पदार्थों को देखते-जानते हैं । निश्चयनय से केवली भगवान आत्मा को अर्थात् स्वयं को ही देखते-जानते हैं ।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव तात्पर्यवृत्ति टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह

“यहाँ ज्ञानी को स्व-पर स्वरूप का प्रकाशकपना कथंचित् कहा है ।

व्यवहारनय से, परमभट्टारक परमेश्वर भगवान; आत्मगुण के घातक घातिकर्मों

के नाश से प्राप्त सम्पूर्णतः निर्मल केवलज्ञान और केवलदर्शन के द्वारा, त्रिलोक में रहनेवाले त्रिकालवर्ती सचराचर सभी द्रव्य-गुण-पर्यायों को एक समय में जानते-देखते हैं; क्योंकि 'पराश्रितो व्यवहारः ह व्यवहारनय पराश्रित होता है' ह ऐसा आगम का वचन है।

शुद्धनिश्चय से, महादेवादिदेव सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर के मूलध्यान में; परद्रव्य के ग्राहकत्व-दर्शकत्व, ज्ञायकत्व आदि के विविध विकल्प रूप सेना की उत्पत्ति का अभाव होने से; वे भगवान त्रिकाल निरुपाधि, अमर्यादित नित्य शुद्ध ह ऐसे सहज ज्ञान और सहज दर्शन द्वारा निज कारणपरमात्मा को; स्वयं कार्यपरमात्मा होने पर भी देखते-जानते हैं।

क्या करके या किसप्रकार ?

ज्ञान का धर्म तो दीपक के समान स्व-परप्रकाशक है। जिसप्रकार घटादि की प्रमिति से, प्रकाश अर्थात् दीपक (कथंचित्) भिन्न होने पर भी स्वयं प्रकाशस्वरूप होने से स्व और पर को प्रकाशित करता है; उसीप्रकार आत्मा भी ज्योतिस्वरूप होने से, व्यवहार से तीन लोक में रहनेवाले सभी परपदार्थों को तथा स्वयं प्रकाशस्वरूप आत्मा को, स्वयं को प्रकाशित करता है; जानता-देखता है।”

उक्त कथन का सार यह है कि व्यवहारनय से केवली भगवान पर-पदार्थों को जानते-देखते हैं और निश्चयनय से स्वयं के आत्मा को जानते-देखते हैं। इसप्रकार वे केवली भगवान दीपक के समान स्व-पर प्रकाशक हैं; क्योंकि ज्ञान का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है।

जिसप्रकार दीपक स्वयं को तो प्रकाशित करता ही है, घट-पटादि पदार्थों को भी प्रकाशित करता है; उसीप्रकार यह ज्योतिस्वरूप भगवान आत्मा स्वयं को जानता ही है, पर को भी जानता है। इसप्रकार यह आत्मा स्व-पर प्रकाशक है।

अपनी बात को पुष्ट करने के लिए टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारि देव '६९ पाखण्डियों पर विजय प्राप्त करनेवाले, विशालकीर्ति के धनी महासेन पण्डितदेव ने भी कहा है' ह ऐसा लिखकर टीका के बीच में ही एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह

(अनुष्टुभ्)

यथावद्वस्तुनिर्णीतिः सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत्।

तत्स्वार्थव्यवसायात्म कथंचित् प्रमितेः पृथक् ॥७३॥^१

१. महासेनदेव पण्डित द्वारा रचित श्लोक, ग्रंथ संख्या एवं श्लोक संख्या अनुपलब्ध है।

(हरिगीत)

वस्तु के सत्यार्थ निर्णयरूप सम्यग्ज्ञान है।

स्व-पर अर्थों का प्रकाशक वह प्रदीप समान है॥

वह निर्णयात्मक ज्ञान प्रमिति से कथंचित् भिन्न है।

पर आत्मा से ज्ञानगुण से तो अखण्ड अभिन्न है॥७३॥

वस्तु का यथार्थ निर्णयरूप सम्यग्ज्ञान है। वह सम्यग्ज्ञान दीपक की भाँति स्व और अर्थ अर्थात् परपदार्थों के व्यवसायात्मक (निर्णयात्मक) है तथा प्रमिति से कथंचित् भिन्न है।

ध्यान रहे उक्त छन्द में लेखक आत्मद्रव्य और ज्ञान-दर्शन गुणों के स्थान पर सम्यग्ज्ञानरूप पर्याय को स्व-पर प्रकाशक बता रहे हैं॥७३॥

टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इस छन्द के उपरान्त टीका के शेष भाग को प्रस्तुत करते हैं; जिसका भाव इसप्रकार है ह

“सतत निर्विकार निरंजन स्वभाव में लीनता के कारण निश्चयनय के पक्ष से भी स्वपरप्रकाशकपना है ही; क्योंकि 'स्वाश्रितो निश्चयः ह निश्चयनय स्वाश्रित होता है' ह ऐसा आगम का वचन है।

यद्यपि वह सहजज्ञान आत्मा से संज्ञा, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा भिन्न संज्ञा (नाम), भिन्न लक्षण से जाना जाता है; तथापि वस्तुवृत्ति से अर्थात् अखण्ड वस्तु की अपेक्षा से भिन्न नहीं है।

इसकारण से वह सहजज्ञान आत्मगत (आत्मा में स्थित) दर्शन, ज्ञान, सुख और चारित्र आदि को जानता है तथा स्वात्मा अर्थात् कारणपरमात्मा के स्वरूप को भी जानता है।”

टीका के इस अंश में टीकाकार मुनिराज सहज ज्ञान अर्थात् ज्ञान गुण या उसकी सम्यग्ज्ञानरूप पर्याय को निश्चयनय से स्व-पर प्रकाशक सिद्ध कर रहे हैं। वे कहते हैं कि ज्ञान स्वयं को जानता है ह यह उसका स्वप्रकाशकपना हुआ और ज्ञान से भिन्न सुख, श्रद्धा, चारित्रादि अपने गुणों और उनकी पर्यायों को जानता है ह यह उसका परप्रकाशकपना हुआ। इसप्रकार वह अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को जानकर निश्चय से भी स्व-पर प्रकाशक सिद्ध होता है।

इस गाथा और इसकी टीका के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह

“भगवान लोकालोक को जानते हैं अर्थात् वे लोकालोक के प्रदेशों में तन्मय हुए बिना ही सम्पूर्ण पदार्थों को जानते हैं; इसलिये व्यवहार कहा है, परन्तु इससे

भगवान का ज्ञान अभूतार्थ है अथवा संदेहात्मक है - ऐसा अर्थ नहीं निकलता तथा कोई कहे कि भगवान की महिमा बताने के लिये लोकालोक जानते हैं - ऐसा कहा है तो यह बात भी गलत है। केवलज्ञान की एक समय की पर्याय का स्वरूप बताता है कि केवली पर में तन्मय हुए बिना समस्त पदार्थों को यथार्थतया जानते हैं तथा वह केवलज्ञान और प्रमिति कथंचित् भिन्न है।^१

केवलज्ञान पर को व्यवहार से जानता है, इसका अर्थ यह नहीं है कि उसे पर का निर्णयात्मकज्ञान नहीं है; बल्कि वह पर को तन्मय होकर नहीं जानता है; अतः व्यवहार से जानता है - ऐसा कहा जाता है।^२

वस्तुतः परमात्मा स्व में लीन हैं; पर को जानने पर भी पर में लीन नहीं होते हैं। स्व की लीनता में ही अन्यगुणों का भी ज्ञान हो जाता है; अतः उनके निश्चय से भी स्व-परप्रकाशकपना है। वे व्यवहार से अपनी आत्मा तथा लोकालोक को जानने से स्व-परप्रकाशी हैं तथा निश्चय से ज्ञान एवं उससे भिन्न अन्य अनन्त गुणों को जानने से स्व-परप्रकाशी हैं।^३

सहज जानना आत्मा का स्वभाव है। कोई कहता है कि जानना तो उपाधि है, तो यह बात गलत है; क्योंकि उपाधि परकृत होती है, जबकि जानना स्वयंभूत है, परकृत नहीं। आत्मा स्व को जानते हुए भी पर को स्पष्ट जान लेता है - यही उसका स्वभाव है।

सहजज्ञान के लिए ज्ञान ही स्व है और उससे भिन्न अन्यगुण पर हैं। वे परस्पर लक्षणादि की अपेक्षा भिन्न हैं; परन्तु प्रदेश (क्षेत्र) की अपेक्षा भिन्न नहीं हैं। अतः ज्ञान (केवलज्ञान) निश्चय से भी स्व-परप्रकाशी सिद्ध होता है।^४

इसप्रकार हम देखते हैं कि गाथा, टीका और टीका में समागत छन्द तथा आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के विवेचन से एक बात पूर्णतः स्पष्ट हो रही है कि केवली भगवान का पर को जानना असत्यार्थ नहीं है; उनके पर को जानने को व्यवहार तो मात्र इसलिए कहा जाता है कि वे पर को तन्मय होकर नहीं जानते, वे उसमें लीन नहीं होते, उनका उनमें अपनापन नहीं है।

वस्तुतः तन्मय होकर जानने का अर्थ उनमें अपनेपन पूर्वक जानना होता है। केवली भगवान का या किसी भी ज्ञानी धर्मात्मा का परपदार्थों में अपनापन नहीं होता; न तो वे उसे अपना जानते हैं, न अपना मानते हैं और न उनमें लीन होते हैं;

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३४६ २. वही, पृष्ठ १३४७ ३. वही, पृष्ठ १३४८
४. वही, पृष्ठ १३४९

मात्र जानते हैं। उनके इस स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए लगभग सर्वत्र ही यह कहा गया है कि वे परपदार्थों को तन्मय होकर नहीं जानते। उनके पर को जानने को व्यवहार तो मात्र इसीलिए कहा गया है। वे उन्हें जानते ही नहीं हैं वह ऐसा अभिप्राय उनका कदापि नहीं है।

निश्चय से स्व-पर प्रकाशक की बात आतमद्रव्य की अपेक्षा ज्ञान गुण या उसकी सम्यग्ज्ञानरूप पर्याय पर भली प्रकार घटित होता है; क्योंकि सुखादि गुण और उनकी पर्यायें ज्ञानगुण या उसकी सम्यग्ज्ञानरूप पर्याय से कथंचित् भिन्न हैं, पर आत्मा से नहीं; क्योंकि आत्मा में तो सभी स्व के रूप में ही समाहित हैं।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि जब ज्ञान व्यवहारनय से सभी को जानता है तो उसमें पर के साथ स्व भी आ जाता है। अतः वह व्यवहार से भी स्व-पर प्रकाशक है। इसप्रकार ज्ञान निश्चय और व्यवहार हू दोनों से ही स्व-पर प्रकाशक है; प्रमाण से तो स्व-पर प्रकाशक है ही ॥१५९॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव 'तथा श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य के द्वारा भी कहा गया है' हू ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है हू

(मंदाक्रांता)

बन्धच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत-

न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम् ।

एकाकारस्वरसभरतोत्यन्तगंभीरधीरं

पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि ॥७४॥^१

(रोला)

बंध-छेद से मुक्त हुआ यह शुद्ध आतमा,

निजरस से गंभीर धीर परिपूर्ण ज्ञानमय ।

उदित हुआ है अपनी महिमा में महिमामय,

अचल अनाकुल अज अखंड यह ज्ञानदिवाकर ॥७४॥

नित्य उद्योतवाली सहज अवस्था से स्फुरायमान, सम्पूर्णतः शुद्ध और एकाकार निजरस की अतिशयता से अत्यन्त धीर-गंभीर पूर्णज्ञान कर्मबंध के छेद से अतुल अक्षय मोक्ष का अनुभव करता हुआ सहज ही प्रकाशित हो उठा और स्वयं की अचल महिमा में लीन हो गया ।

१. समयसार : आत्मख्याति, छन्द १९२

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जो ऐसे केवलज्ञान को नहीं जानता है तथा उसका निर्णय नहीं करता है, उसे सच्चे देव की खबर नहीं है। जो ऐसे केवलज्ञान का असत्य निरूपण करता है, वह तीव्र मिथ्यात्व का सेवन करता है। देव का निर्णय करने के लिए केवलज्ञान के स्वरूप को जानना नितान्त आवश्यक है।

स्व-परप्रकाशक एवं निर्णयात्मक केवलज्ञान की यहाँ चर्चा चलती है। वह शुद्धोपयोग स्वरूप केवलज्ञान व्यवहार से लोकालोक को जानता है। पर को जानने पर भी ज्ञान पररूप नहीं होता है; अतः पर को व्यवहार से जानता है और निश्चय से अपनी आत्मा को जानता है।

ज्ञान स्व को जानता है, यह उसकी स्वप्रकाशकता है तथा ज्ञान के अलावा अन्य गुणों को जानना उसकी परप्रकाशकता है।^१

ज्ञान और दर्शन दोनों एक ही समय में पर को उसमें तन्मय हुए बिना जानते, देखते हैं; अतः उनका जानना-देखना व्यवहार कहलाता है।^२”

इसप्रकार इस कलश में उस सम्यग्ज्ञानज्योति को स्मरण किया गया है कि जो स्वयं में समाकर, त्रिकालीध्रुव निज भगवान आत्मा का आश्रय कर, केवलज्ञानरूप परिणमित हो गई है। ज्ञानज्योति का केवलज्ञानरूप परिणमित हो जाना ही मोक्ष है।।७४।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव ‘तथाहि’ लिखकर एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह

(स्रग्धरा)

आत्मा जानाति विश्वं हानवरतमयं केवलज्ञानमूर्तिः
मुक्तिश्रीकामिनीकोमलमुखकमले कामपीडां तनोति ।
शोभां सौभाग्यचिह्नां व्यवहरणनयाद्देवदेवो जिनेशः
तेनोच्चैर्निश्चयेन प्रहतमलकलिः स्वस्वरूपं स वेत्ति ।।२७२।।

(हरिगीत)

सौभाग्यशोभा कामपीडा शिवश्री के वदन की ।
बढ़ावे जो केवली वे जानते सम्पूर्ण जग ॥

व्यवहार से परमार्थ से मलक्लेश विरहित केवली ।

देवाधिदेव जिनेश केवल स्वात्मा को जानते ।।२७२।।

व्यवहारनय से यह केवलज्ञानमूर्ति आत्मा सम्पूर्ण विश्व को वस्तुतः जानता है तथा मुक्तिलक्ष्मीरूपी कामिनी के कोमल मुख कमल पर कामपीडा और सौभाग्य चिह्नवाली शोभा को फैलाता है। निश्चयनय से मल और क्लेश से रहित वे देवाधिदेव जिनेश निजस्वरूप अपने भगवान आत्मा को अत्यन्त स्पष्टरूप से जानते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह

“आत्मा में जो शक्तिरूप से ज्ञान था, वही पूर्णतः व्यक्त हुआ है। ह ऐसा कहकर आचार्यदेव भगवान की पहचान कराते हैं, वस्तु के वास्तविक स्वरूप को बताते हैं। ऐसा जानने पर भी आत्मा की मुक्ति न हो - ऐसा नहीं बनता है।

एक केवली से दूसरे केवली भिन्न हैं, एक सिद्ध से दूसरे सिद्ध भिन्न हैं, उन सबको केवलज्ञान जानता है; परन्तु ज्ञान उनरूप नहीं होता; अतः व्यवहार कहा है। व्यवहारनय से कहा है; अतः पर को नहीं जानता - ऐसा नहीं है; परन्तु वास्तव में पर को जानता है।

मन, वाणी से पार आत्मा में लीन होने से प्रगट होने वाला पूर्णज्ञान निरन्तर लोकालोक को जानता है।^१

केवली भगवान मुक्तिलक्ष्मीरूपी कामिनी से सुशोभित हो रहे हैं। वे पूर्णज्ञान में आनन्द और शान्ति का अनुभव करते हैं। वह परिणतिरूपी स्त्री भगवान से कभी भिन्न नहीं होती है। जिसप्रकार संसार में जो स्त्री विधवा नहीं है, वह सौभाग्यवती कहलाती है; उसीप्रकार आत्मा की जो परिणति पूर्णदशारूप हुई, वह सौभाग्यवती है; क्योंकि उसका विरह नहीं होता है अर्थात् प्रगट होने पर ऐसी की ऐसी ही रहती है।

निचली दशा में तो उसका छूटना संभव है अर्थात् परिणति में विरह हो सकता है; परन्तु केवलज्ञान और केवलदर्शन अनन्त काल रहता है। यह सौभाग्य कभी समाप्त नहीं होता है। यह केवलज्ञान का स्वरूप है।^२”

उक्त छन्द में भी यही कहा गया है कि केवली भगवान निश्चय से निज भगवान आत्मा को और व्यवहार से लोकालोक को जानते हैं। ●